जैन दर्शन में तत्व-विवेचना

लेखक :- रमेश मुनि शास्त्री

जैन दर्शन में तत्व का आधारभूत और महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जीवन का तत्व से और तत्व का जीवन से परस्पर एवं प्रगाढ सम्बन्ध रहा है। तत्व लोक सापेक्ष भी है और उस का परलौकिक क्षेत्र में भी विशेष रुप से महत्त्व है। दार्शनिक चिन्तन एवं वैज्ञानिक विचारणा का मूलभूत केन्द्र-बिन्दु तत्व शब्द द्वारा अभिधेय कोई न कोई वस्तु है। यह एक सत्य और तथ्य है।

तत्व एक शब्द है। प्रत्येक शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं होता है। उस का कुछ न कुछ अर्थ होता है। यह अर्थ वस्तु में विद्यमान किसी गुणधर्ग या किसी न किसी क्रिया का परिज्ञान अवश्य कराता है। इसलिये शब्दशास्त्र की दृष्टि से "तत्व" शब्द का अर्थ है-जो पदार्थ जिस रुप में विद्यमान है, उस का उस रुप में होना, यही उक्त शब्द का अर्थ है। शब्दशास्त्र के-अनुसार प्रत्येक सद्भूत वस्तु को "तत्व" शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि लौकिक दृष्टि से तत्व शब्द के अर्थ है- वास्तविक स्थिति, यथार्थता, साखस्तु सारांश! और सारांश! दार्शनिक दृष्टि से तत्व शब्द के अर्थ है परमार्थ द्रव्य स्वभाव, पर-अपर शुद्ध परम ये शब्द तत्व के पर्यायवाची है, "तत्"
शब्द से भाव अर्थ में "त्त्व" प्रत्यय लग कर तत्व शब्द निष्पन्न हुआ है। जिस का स्पष्टत: अर्थ उस का भाव! वस्तु के स्वरुप को तत्व कहा गया है। "तत्" सर्वनाम शब्द है, जो अवश्य ही किसी संज्ञा अर्थात् वस्तु की ओर इंगित करते है। उस वस्तु का ही तत्व में महत्त्व है।

जो पदार्थ अथवा वस्तु अपने जिस रुप में है, उस का उस रुप में होना ही तत्व है। प्रत्येक पदार्थ, जो है अर्थात् जिस का अस्तित्व स्वीकार्य है। वह तत्व के अन्तर्गत परिगणित हो जाती है। किन्तु दर्शन में इन में से कतिपय को ही अपने अर्थ में तत्व रुप में स्वीकार किया गया है।

दार्शनिक दृष्टि से तत्व की व्याख्या और भी अधिक सूक्ष्म है, वह इस प्रकार है-तत्व का लक्षण सत् है अथवा सत्[२] ही तत्व है। अतएवं वे स्वभाव से सिद्ध है। जगत में जो है वह तत्व है और जो नहीं है। वह तत्व नहीं है, इतना स्वीकार कर लेना प्रत्येक अवस्था में सर्वथा निरापद एवं यथार्थ सन्निक्त है। होना तत्व है और नहीं होना तत्व नहीं है। तत् का लक्षण "सत" है। सत् का विनाश नहीं होता है। और सत् स्वयं सिद्ध है उस का आदि भी नहीं है, मध्य भी नहीं और अन्त भी नही है वह भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्य काल इन तीनों में स्थित रहता है।

जैन दर्शन में सत् तत्व,

तत्वार्थ, अर्थ पदार्थ, और द्रव इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। जो सत् है, वही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही सत्[३] है। स्वरुप की प्राप्ति ही जीवमात्र का एकमात्र लक्ष्य है। एकमात्र साध्य है। इसलिये स्वरुप की साधना दृष्टि से सर्वप्रथम चैतन्य और जड़ का भेद विज्ञान नितान्त आवश्यक है। इस के साथ ही चैतन्य और जड़के संयोग-वियोग का

१. बृहद्नय चक्र-४, २. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध श्लोक-८, ३. भगवती सूत्र-८, ९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिज्ञान होना अति अपेक्षित है। अतएवं साधक को आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था के कारणों का परिबोध होना अत्याधिक आवश्यक है। वे कारण जो कि साधना के प्रमुख हेतु है, तत्व कहे जाते है।

तत्व का लक्षण परिज्ञात होने पर यह प्रश्न होता है कि तत्व किसे कहते है उन की संख्या कितनी है? उक्त प्रश्न का उत्तर आध्यात्मिक और दार्शनिक इन दोनों दृष्टियों से दिया गया है।

प्रथम शैली के अनुसार तत्व दों है, वे इस[४] प्रकार है।

१. जीव तत्व!

२. अजीव तत्व!

द्वितीय शैली के अनुसार तत्व सात है। उन के नाम इस प्रकार[५] है।

१ जीव तत्व	४ बन्ध तत्व
२ अजीव तत्व	५ संवर तत्वा
३ आश्रव तत्व	६ निर्जरा तत्व
मोक्षतत्व	

तृतीय शैली के अनुसार तत्व की संख्या नौ है। उन के नाम इस प्रकार है।

१ जीव तत्व!	५ आश्रव तत्व!
२ अजीव तत्व!	६ बन्ध तत्व!
३ पुण्य तत्व!	७ संवर तत्व!
४ पाप तत्व!	८ निर्जरा तत्व!
	९ मोक्ष तत्व

पुण्य और पाप इन दो तत्वों को आश्रव और बन्ध इन दो तत्वों में से आश्रव या बन्ध में समावेश कर लेने पर सात तत्व कहलाते है। पुण्य -पाप को आश्रव और बन्ध से अलग कर के कहने से नौ तत्व कहलाते है। इस दृष्टि से तत्व की संख्या नौ बतलाई गयी है।

उक्त सात या नव तत्वों में से जीव और अजीव ये दो तत्व तो धर्मी है। अर्थात आश्रव आदि अन्य तत्वों के आधार है। और अवशेष आश्रव आदि उन के धर्म हैं। दूसरे रुप में इन का वर्गीकरण करते हैं तो जीव और अजीव ज्ञेय हैं-जानने योग्य हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन तत्व उपादेय - ग्रहण करने योग्य हैं। शेष आश्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये चार तत्व हे अर्थात् त्याग करने योग्य हैं। उक्त नव तत्वों का संक्षेप में स्वरुप इस प्रकार हैं।

१-जीव तत्व-जो द्रव्य प्राणों और भावप्राणों से जीता है। वह जीव है। जीव उपयोगमय है। कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्त्त है। स्व - और स्वदेह-परिमाण है। वह संसारस्थ है। कर्म मुक्त जीव सिद्ध है। जीव स्वभाव त: ६ उर्ध्वगामी है। उपयोग यह जीव का लक्षण[६] है। पदार्थ के स्वरुप को जानने के लिये जीव की जो शक्ति-प्रवृत्ति होती है। उसे "उपयोग" कहते है। उपयोग के दो भेद है-ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग! जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष ये दो धर्म पाये जाते है। उपयोग जीव का असाधारण, धर्म है! जीव अविनाशी है,[७] अवस्थित है। जीवतत्व

४. तत्त्वार्थ सूत्र - अध्ययन-१ सूत्र-४, ५. क- स्थानांग सूत्र-स्थान-९ सूत्र-६६५. ख-उत्तराध्यदन सूत्र अध्ययन २८ गाथा -१४, ६. क-स्थानांग सूत्र-५/३/५३. ख-भगवती सूत्र-१३/४/४८. ग-उत्तराध्ययेन सूत्र २८१०. य-तत्त्वार्थसूत्र २/८, ७. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र-१/५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की मौलिक विचारधारा जो कि अपने आप में एक विलक्षण है, परिपूर्ण रुप से सत्यमय एवं श्रद्धेय रुप है। विशुद्ध चैतन्य यह जीव का स्वभाव है।

इसी सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि जीव का शरीर के साथ तादाम्य सम्बन्ध है। वह शरीर से सर्वथाअभिन्न नहीं है। क्यों कि शरीर के नाश के साथ उस का विनाश नहीं होता है। कर्मोपाधि से उन्मुक्त हो जाने के कारण मुक्त जीवों के कोई भेद प्रभेद नहीं है। किन्तु कर्म सहित होने से संसारी जीवों के मुख्य दो भेद है - स्थावर और त्रस! ये दोनों भेद संसारी जीव की अपेक्षा से किये गये है! इन दो भेदों में संसारस्थ अनन्त जीवों का समग्र भावसे

२- अजीवतत्व-जीवतत्व का-प्रतिपक्षी अजीव तत्व[८] है। अर्थात जीव के विपरीत "अजीव" है। जिस में चेतना नहीं है, जो सुख और दुःख की अनुमूति भी नहीं कर सकता है। वह अजीव है। अजीव को जड अचेतन भी कहते है। अजीव तत्व के पाँच भेद हैं। उन के नाम ये हैं।

१ धर्मास्तिकाय।
२ अधर्मास्तिकाय।
३ आकाशास्त्रिकाय।
४ काल।
५ पुदगलास्तिकाय!

उक्त पांच मे दों मे, धर्म, अधर्म, आकाश और काल[९] ये चार अजीव तत्व अमूर्त्त है और पुदगल मूर्त्त है। अमूर्त्त के लिये अरुपी और मूर्त्त के लिये रुपी शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस में, रुप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं। और जिस में ये चारों गुण नहीं पाये जाते है, उन्हें क्रमशं मूर्त्त और अमूर्त्त कहते हैं।

१-धर्मास्तिकाय-यह गति सहायक तत्व है। जिस प्रकार मछली को गमन करने में जल सहकारी निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों को धर्मास्तिकाय द्रव्य गमन करने में सहकारी कारण माना गया[१०] हैं।

२-अधर्मास्तिकाय-यह स्थिति सहायक तत्व है। जीव और पुद्गल इन दोनों को ठहराने में उसी प्रकार सहायक है, जैसे ८-स्थानांग सूत्र २/१/५७ ! ९-उत्तराध्ययन सूत्र-२८/७ ! १०- उत्तराध्ययन सूत्र-२८/९! वृक्ष की शीतल छाया पधिक को ठहराने में सहायक है।

यह धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य जीव - पुद्गल द्रव्यों को न तो बलात् चलाते हैं और न ठहराते है। किन्तु विभिन्न रुप से उनके लिये सहायक बनते हैं।

३-आकाशास्तिकाय-जो सब[११] द्रव्य को अवकाश देता है। वह आकाश है। जीव, अजीव आदि

८-स्थानांग सूत्र, २/१/५७.
९-उत्तराध्ययन सूत्र-२८/७.
१०. उत्तराध्ययन सूत्र - २८/९.
११. तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन-५ सूत्र-१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब द्रव्य आकाश में अवस्थित है। आकाश के दो भेद है-लोकाकाश और अलोका-काश! जितने क्षेत्र में रहेते है, वह लोकाकाश है। शेष सब अलोकाकाश है।

४-काल-जो द्रव्यों की नवीन-पुरातन आदि अवस्थाओं को बदलने में निमित्त रुप से सहायता करता है। वह काल द्रव्य है।

५-पुद्गलास्तिकाय- "पुद्गल" यह जैन दर्शन का पारिमाषिक शब्द है। उक्त शब्द पारिभाषित होते हुए रुद नहीं, किन्तु व्यौत्पत्तिक है। पूर्ण स्वभाव से पुत् और
गलन स्वभाव से गल इन दो अवयवों के मेल से पुद्गल शब्द बना है,। यानी पूरण और गलन को प्राप्त होने से पुदगल अन्वर्थ संज्ञक है। "पुद्गल" शब्द को विशेष अर्थ है। जो पुद + गल इन दो शब्दों के मिलने से बनता है। विराट् विश्व में जितने भी पदार्थ है, वे मिल-मिल के बिछुडते हैं और बिछुड-बिछुड कर फिर मिलते है। जुड/जुड कर टूटते हैं और टूट-टूट कर फिर जुडते है। इसीलिये उन्हें पुद्गल कहा है। "पुद्गल" में वर्ण गन्ध रस[१२] और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते है। अतएव वह मूर्त्त है। गलन और मिलन स्वभाव को इस प्रकार समझा जा सकता है स्कन्धों में से कितने ही परमष्णु दूर होते है। और कितने ही नवीन परमाणु जुडते है। मिलते है। जब कि परमाणु में से कितनी ही वर्णा दि पर्यायें विलग हो जाती है। हट ११- चत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन-५ सूत्र - १८! जाती हैं। और कितनी ही आकर मिल जाती हैं। इसीलीये सभी स्कन्धों और परमाणुओं को पुदगल कहते है। और उन के लिये "पुद्गल" कहना सार्थक, अन्वर्थक है। पुद्गल के[१३] उस सूक्ष्मतम अंश को परमाणु कहा जाता है। परमाणु स्कन्ध का वह विभाग है। जो विभाजित हो ही नहीं सकता! जब तक वह स्कन्धगत है, तब तक वह स्कन्ध प्रदेश कहलाता है। और अपनी पृथक् अवस्था में परमाणु पुद्गल अविभाज्य है अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाहय है, और अग्राहय है। किसी भी उपाय, उपचार और उपाधि से उस का विभाजन नहीं हो सकता! परमाणु पुद्गल अनर्ध हैं अमध्य है, अप्रदेशी है। उस की न लम्बाई है, न चौडाई है। न उंचाई है, न गहराई है। यदि वह है तो स्वयं इकाई है। सूक्ष्मता के कारण वह स्वयं ही आदि, मध्य और अन्त है। निष्कर्ष रुप में यह भी कह सकते है कि सब द्रव्यों मे जिस की अपेक्षा अन्य कोई अनुत्तर न हो, परम अत्यन्त अणुत्व हो, उसी को परमाणु काहा जाता है। यह सुस्पष्ट तथ्य है।

परमाणु-परमाणु के बीच ऐसी कोई भेद रेखा नहीं है। कि एक परमाणु दूसरे परमाणु रुप न हो सके! कोई भी परमाणु कालान्तर में किसी भी परमाणु के सदृश-विसदृश हो सकता

१२- क हरिवंश पुराण ७/३६ !
ख- न्याय कोष पृष्ठ-५०२!
ग-तत्वार्थवृत्ति -५/१!
घ-तत्वार्थ सूत्र- ५/२३!
ड-तत्वार्थ वृर्त्तिक-५/१/२८!
१३-सर्वार्थ सिद्धि टीका -सूत्र ५/२५!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। परमाणु जड अचेतन होता हुआ भी गतिधर्म वाला है। उस की गति पुद्गक प्रेरित भी होती है और अप्रेरित भी है। वह सर्वदा गतिमान रहता हो गति करता रहता हो, ऐसी भी बात नहीं है। किन्तु कभी करता है और कभी नहीं करता है। यह अगतिमान निष्क्रिय परमाणु कब-गति करेगा। यह अनिश्चित है। इसी प्रकार सक्रिय परमाणु कब गति और कब क्रिया बन्द कर देगा, यह भी अनियत है। परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा में होती है।

पुद्गल के दो भेद है- परमाणु और स्कन्ध! स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल! पुद्गल के चार प्रकार भी है वे नाम इस प्रकार है।

१-स्कन्ध! ३-स्कन्ध प्रदेश!

२-स्कन्ध देश। ४- परमाणु!

१-स्कन्ध- दो से लेकर यावत् अनन्त परमाणुओं का एक पिण्ड रुप होना "स्कन्ध" है। कम से कम दो परमाणु ओं का स्कन्ध होता है। जो द्विप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। कभी-कभी अनन्त परमाणुओं के स्वाभाविक मिलन से एक लोकव्यापी महास्कन्ध भी बन जाता है। इस महास्कन्ध की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य सर्वगत है।

२-स्कन्ध देश- स्कन्ध एक इकाई है। उस ईकाई का बुद्धि कल्पित एक भाग स्कन्ध देश कहलाता है।

३- स्कन्ध प्रदेश- प्रत्येक स्कन्ध की मूलभूत मित्ति "परमाणु" है। जब तक वह परमाणु स्कन्धगत है। तब तक वह स्कन्ध प्रदेश कहलाता है।

४- परमाणु- पुद्गल का सब से सूक्ष्मतम अंश, अविभाज्य अंश "परमाणु" है। जब तक वह स्कन्धगत है, तब तक वह प्रदेश है और स्कन्ध से अलग होने पर वह परमाणु कहलाता है।

निष्कर्ष रुप में यही कहा जा सकता है कि जो जीव संसारस्थ है, वह कर्म बद्ध है, उस जीव का पुदगल के अवश्य सान्ध रहा है। अत: जीव को पुद्गल[१४] भी कहा है।

३-४-पुण्य और पाप = जो आत्मा को पवित्र करता है, वह पुण्य है और जो आत्मा को अपवित्र करता है। वह पाप है। पुण्य शुभ कर्म है, पाप अशुभ कर्म है।[१५] आत्मा की वृत्तियाँ अगणित है। इसलिये पुण्य-पाप के कारण भी अगणित हैं।- प्रत्येक प्रवृत्ति यदि शुभ रुप है तो पुण्य का कारण बनती है। और प्रवृत्ति यदि अशुभ रुप है तो पाप का कारण बन जाती है।

फिर भी त्या व्यावहारिक दृष्टि से उन में से कुछ एक कारणों का[१६] संकेत किया जा रहा हैं। पुण्य के नौ भेद है। उन के नाम ये है।

१- अन्न पुण्य! ९ नमस्कार पुण्यवस्त्र पुण्य!

२- पान पुण्य १ ६- मन पुण्य!

३- लधन पुण्य! ७-वचन पुण्य!

४- शयन पुण्य! ८-' काय पुण्य!

अशुभ कर्म और उदय में आये हुए अशुभकर्म पुद्गल को पाप कहते है। पाप के कारण भी असंख्य है। फिर भी संक्षेप दृष्टि से पाप के अठारह भेद है। उन के नाम इस प्रकार है।

१४-भगवती सूत्र-८/१०/३६१!, १५-भगवती सूत्र-८/३,४!, १६-स्थानांग सूत्र स्थान-९ उहे ३!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ - प्राणातिपात!	१० - राग!
२ - मृषावाद	११ - द्वेष!
३ - अदत्तादान!	१२ - कलह!
४ - मैथुन!	१३ - अभ्याख्यान
५ - परिग्रह!	१४ - पैशुण्य
६ - क्रोध!	१५ - परनिन्दा!
७ - मान!	१६ - रति - अरति!
८ - माया!	१७ - माया मृषावाद!
९ - लोभ!	१८ - मिथ्यादर्शन!

आध्यात्मिक दृष्टि से पुण्य और पाप ये दोनों बन्धन रुप है। अतएव मोक्ष - साधना के लिये दोनों हेय हैं। पुण्य सोने की बेड़ी के समान है, और पाप लोहे की बेड़ी के समान है। पूर्ण मुक्त होने के लिये और वीतरागता प्राप्त करने के लिये पुण्य और पाप इन दोनों से मुक्त होना होगा।

५ - आश्रव - पुण्य-पाप रुप कर्मों के आने के द्वार "आश्रव" है। आश्रव द्वारा ही आत्मा कर्मों को ग्रहण करती है। मन, वचन और काया के क्रिया रुप योग आश्रव[१७] है। जैसे एक तालाब है। उस में नाली से आकर जल भरता है। उसी प्रकार आत्मा रुपी तालाब में हिंसा, झूठ आदि पाप कार्यरुप नाली द्वारा कर्म रुप जल भरता है। अर्थात् आत्मा में कर्म के आने का मार्ग आश्रव हैं।

आत्मा में कर्म के आने के द्वार रुप आश्रव के पांच भेद हैं।

१ - मिथ्यात्त्व।	३ - प्रमाद।
२ - अविरति।	४ - कषाय।
	५ - योग।

अध्यात्म साधना के समुत्कर्ष के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि आत्मविकास के बाधक तत्त्व के स्वरूप का परिज्ञान करके उससे मुक्त होनेका प्रयत्न करे। आश्रव जीवका विभाव में रमण करने का कारण होता है। इसलिये विभाव और स्वभावको समझ कर स्वभाव में स्थित होना ही -

१७ क - सर्वार्धसिद्धि ६/२!
ख - सूयकृतांग शीलांक वृत्ति २/५-१७!
ग - अध्यात्मसार १८/१३१!
घ - आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति, मल-हेम-हि.पृ. ८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्रव एवं संसार से मुक्त होना है।

६ - संवर - कर्म आने के द्वार को रोकना संवर है। संवर आश्रव का विरोधी तत्त्व है। आश्रव कर्म रूप जल के आने की नाली के समान है। और उसी नाली को रोक कर कर्मरुप जल के आने का मार्ग बन्द कर लेना या उस मार्गको अवरूद्ध कर देना संवरका कार्य है। संवर आश्रव - निरोध की प्रक्रिया है।[१८] उससे नवीन कर्मोंका आगमन नहीं होता है। संवरके दो भेद[१९] हैं। द्रव्य संवर और भाव संवर। इन में कर्म पुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्य संवर है और संसार वृद्धि में कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना, आत्माका शुद्ध उपयोग अर्थात् समिति, गुप्ति आदि भाव-संवर है। संवरकी सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्रसे होती है। संवर के मुख्य भेद पांच हैं। उन के नाम इस प्रकार प्रतिपादित हैं।

१ - सम्यक्त्व! ५ - अयोग - अप्रमाद!
२ - व्रत! ४ - अकषाय!

ये पांच भेद आश्रव के विरोधी है, संवर के विस्तार से बीस भेद और सत्ता-

च - पंचास्तिकाय २/१४२, अमृतचन्द्र वृत्ति!
छ - पंचास्तिकाय २/१४२, जयसेन वृत्ति!
२० क - तत्त्वार्थसूत्र ९/१९-२०/
ख - उत्तराध्ययन सूत्र २८/३४/३०/७
२१ क - प्रकृतिस्थित्यनु भाग प्रदेशास्तद्विधयः तत्त्वार्थ सूत्र ८/४!
ख - प्रकृतिस्थित्यनुभाग भेदाच्च चतुर्धा!
षट्दर्शन समुचय पृ. २७७/ वन प्रकार भी है।

७ - निर्जरा तत्त्व - आत्मा पर जो कर्मावरण है। उसे तप आदि के द्वारा क्षय किया जाता है। कर्म क्षय का हेतु होने से तप को भी निर्जरा कहते हैं। तप के बारह भेद होने से निर्जरा के भी बारह प्रकार हैं।[२०] उन के नाम इस प्रकार हैं।

१ - अनशन! ७ - प्रायश्चित्त!
२ - ऊबो दरी! ८ - विनय!
३ - भिक्षाचरी! ९ - वैयावृत्य!
४ - रस परित्याग! १० - स्वाध्याय!
५ - कामक्लेश! ११ - ध्यान!
६ - प्रति संलीनता! १२ - कायोत्सर्ग!

संवर नवीन आनेवाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। नौका में छिद्रों द्वारा जल का आना 'आश्रव' है। छिद्र बन्द कर के पानी रोक देना "संवर" है। परन्तु जो पानी आ चुका है, उस का क्या हो? उसे धीरे-धीरे उचीलना ही पडेगा, बस, यही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है -जर्जरित कर देना!

१८ क - तत्त्वार्थ सूत्र - अध्ययन - ९ सूत्र - १, ख - योगशास्त्र - ७६ पृष्ठ - ४
१९ क - स्थानांग सूत्र टीका - १/१४!, ख - सप्ततत्त्वप्रकरण ११२!
ग - योगशास्त्र ७९ - ८०!, घ - सर्वार्थसिद्धि ९/१, ङ - द्रव्य संग्रह - २/३४!
२०. क-तत्त्वार्थसूत्र ९/१९-२०., ख-उत्तराध्ययन सूत्र २८/३४/३०/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झाड देना, पृथक् कर देना "निर्जरा" तत्त्व है। इस का आत्म-शुद्धि की दृष्टिसे अत्याधिक महत्त्व रहा है।

८ - बन्ध तत्त्व - आत्मा के साथ क्षीर - नीर की भांति कर्मोंका मिल जाना बन्ध है। बन्ध एक वस्तु का नहीं होता, दो वस्तुओं का सम्बन्ध होता है, उसे बन्ध कहते हैं।

काषायिक - परिणामों से कर्म के योग्य पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है। जीव अपने काषायिक-परिणामों से अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्गलों का बन्ध करता रहता है। आत्मा और कर्मों का यह बन्ध दूध और पानी, अग्नि और लोह पिण्ड जैसा है। बन्ध तत्त्व के चार भेद हैं।[२१] वे ये हैं -

१ - प्रकृति बन्ध!	३ - अनुभाग बन्ध!
२ - स्थिति बन्ध!	४ - प्रदेश बन्ध!

बन्ध के शुभ और[२२] अशुभ ऐसे दो प्रकार हैं। प्रकृति बन्ध के आठ भेद हैं।

१ - ज्ञानावरण!	५ - आयुष्य।
२ - दर्शनावरण!	६ - नाम!
३ - वेदनीय!	७ - गोत्र!
४ - मोहनीय!	८ - अन्तराय!

जीव जब तक कर्म-जाल से बद्ध है तब तक वह संसार - कानन में भ्रमण करता है।

९ - मोक्षतत्त्व - नवतत्त्व में अन्तिम-तत्त्व "मोक्ष" है। मोक्ष ही जीव मात्रका चरम और परम लक्ष्य है। मोक्ष की परिभाषा इस प्रकार है - [२३] समस्त कर्मों से मुक्ति और राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय। बन्ध के कारणों और संचित कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। ये मोक्ष मार्ग है। तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि यही सम्यग्दर्शन हैं।[२४] "जिन" की वाणी में, जिन के उपदेश में जिस को दृढ़ निष्ठा है, वही सम्यग्दृष्टि है।[२५] नय और प्रमाण से होने वाला जीव आदि तत्वोंका यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव की निवृत्ति हो कर जो स्वरूप -रमण होता है। वही सम्यक्-चारित्र है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं। तभी सम्पूर्ण मोक्ष संभव है। अन्यथा नहीं। एक भी साधन जब तक अपूर्ण रहेगा! तब तक मोक्ष - प्राप्त नहीं हो सकता हैं।

सारपूर्ण भाषा में यही कहा जा सकता है कि नवतत्त्व की जो तात्त्विक व्यवस्था है, वह यथार्थ अर्थ में मोक्षमार्ग परक है। और वह विशिष्ट व्यवस्ता आत्मा को कर्म बन्धन से उन्मुक्त होने का पुरुषार्थ करने और मोक्ष -प्राप्त करने के लिये विशेषतः प्रेरित करती है इसी में तत्त्वज्ञान की सार्थकता है, और यही तत्त्व-विचारणा है।

२१. क-प्रकृतिस्थित्यनु भाग प्रदेशास्तद्विधयः तत्त्वार्थ सूत्र ८/४.
ख-प्रकृतिस्थित्यनुभागभेदाच्च चतुर्थ. षट्दर्शनसमुच्चय पृ. २७७.
२२ - ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीया र्यु नाम गोमान्तराय रूपम्!
यशो विजय कृत टीका - कर्मप्रकृतिगा -१ २३ - कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।
तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन १० सू ३ २४ क -स्थानांगसूत्र स्थान - ९!
ख - उत्तराध्ययन सूत्र २८/१५!, ग - तत्त्वार्थ सूत्र अ-१ सू-२!
२५ - तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं आचारांग सूत्र ५, १६३!

 जिस दिन मानव अहंकार त्याग, सद्ज्ञान का पुजारी बन जाता है बस उस दिन से वह स्व और पर काउद्धारक हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org